श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

उद्धव गीता (11.8)

स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्री कृष्ण तैयार।
उद्धृत किए उद्धव समक्ष अद्भुत अनमोल उद्गार ।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।

देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।

प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

एकादशः स्कंधः

अथाष्टमोऽध्यायः

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं(म्) राजन्, स्वर्गे नरक एव च ।

देहिनां(यँ) यद् यथा दुःखं(न्), तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥ 1 ॥

अवधूत दत्तात्रेय जी कहते हैं- राजन्! प्राणियों को जैसे बिना इच्छा के, बिना किसी प्रयत्न के, रोकने की चेष्टा करने पर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्ग में या नरक में-कहीं भी रहें, उन्हें इन्द्रियसम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं। इसलिए सुख और दुःख का रहस्य जानने वाले बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकार का प्रयत्न न करे।

ग्रासं(म्) सुमृष्टं(वँ) विरसं(म्), महान्तं(म्) स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं(ङ्), ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ 2 ॥

बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाये-वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक या थोड़ा-बुद्धिमान पुरुष अजगर के समान उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह कर ले और उदासीन रहे।

शयीताहानि भूरीणि, निराहारोऽनुपक्रमः ।

यदि नोपनमेद् ग्रासो, महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ 3।।

यदि भोजन न मिले तो उसे भी प्रारब्ध-भोग समझकर किसी प्रकार की चेष्टा न करे, बहुत दिनों तक उपवास रख ले। उसे चाहिये कि अजगर के समान केवल प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए भोजन में ही सन्तुष्ट रहे।

ओजः(स्)सहोबलयुतं(म्), बिभ्रद् देहमकर्मकम् ।

शयानो वीतनिद्रश्च, नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ 4 ॥

उनके शरीर में मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल तीनों हों, तब भी वह निश्चेष्ट ही रहे। निद्रारहित होने पर भी सोया हुआ-सा रहे और कर्मेन्द्रियों के होने पर भी उनसे कोई चेष्टा न करे। राजन्! मैंने अजगर से यही शिक्षा ग्रहण की है।

मुनिः(फ्) प्रसन्नगम्भीरो, दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।

अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः(स्), स्तिमितोद इवार्णवः ॥ 5 ॥

समुद्र से मैंने यह सीखा है कि साधक को सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये, उसका भाव अथाह, अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्त से उसे क्षोभ न होना चाहिये। उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तरंगों से रहित शान्त समुद्र रहता है।

समृद्धकामो हीनो वा, नारायणपरो मुनिः ।

नोत्सर्पेत न शुष्येत, सरिद्भिरिव सागरः ॥ 6 ॥

देखो, समुद्र वर्षा ऋतु में नदियों की बाढ़ के कारण बढ़ता नहीं और न ग्रीष्म-ऋतु में घटता ही है; वैसे ही भगवत्परायण साधक को भी सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति से प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उनके घटने से उदास ही होना चाहिये।

दृष्ट्वा स्त्रियं(न्) देवमायां(न्), तद्भावैरजितेन्द्रियः ।

प्रलोभितः(फ्) पतत्यन्धे, तमस्यग्नौ पतं(ङ्)गवत् ॥ 7 ॥

राजन्! मैंने पतंगे से यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूप पर मोहित होकर आग में कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियों को वश में न रखने वाला पुरुष जब स्त्री को देखता है तो वह मुग्ध हो जाता है और घोर अन्धकार में, नरक में गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है।

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-

द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।

प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या,

पतं(ङ्)गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ 8 ॥

जो मूढ़ कामिनी-कंचन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थों में फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोग के लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेक बुद्धि खोकर पतंगे के समान नष्ट हो जाता है।

स्तोकं(म्) स्तोकं(ङ्) ग्रसेद् ग्रासं(न्), देहो वर्तेत यावता ।

गृहानहिं(म्)सन्नातिष्ठेद् , वृत्तिं(म्) माधुकरीं(म्) मुनिः ॥ 9 ॥

राजन्! संन्यासी को चाहिये कि गृहस्थों को किसी प्रकार का कष्ट न देकर भौंरे की तरह अपना जीवन-निर्वाह करे। वह द्वार-द्वार जाकर प्रत्येक परिवार से थोड़ा-थोड़ा भोजन स्वीकार कर ले।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च, शास्त्रेभ्यः(ख्) कुशलो नरः ।

सर्वतः(स्) सारमादद्यात् , पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ 10 ॥

जिस प्रकार भौंरा विभिन्न पुष्पों से-चाहे वे छोटे हों या बड़े-उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रों से उनका सार-उनका रस निचोड़ ले।

सायन्तनं(म्) श्वस्तनं(वँ) वा, न सं(ङ्)गृह्णीत भिक्षितम् ।

पाणिपात्रोदरामत्रो, मक्षिकेव न सङ्ग्रही ॥ 11॥

राजन्! मैंने मधुमक्खी से यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासी को सायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिये भिक्षा का संग्रह न करना चाहिये। उसके पास भिक्षा लेने को कोई पात्र हो तो केवल हाथ और रखने के लिये कोई बर्तन हो तो पेट। वह कहीं संग्रह न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियों के समान उसका जीवन ही दूभर हो जायेगा।

सायन्तनं(म्) श्वस्तनं(वँ) वा, न सं(ङ्)गृह्णीत भिक्षुकः ।

मक्षिका इव सं(ङ्)गृह्णन्, सह तेन विनश्यति ॥ 12॥

यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि संन्यासी सबेरे-शाम के लिये किसी प्रकार का संग्रह न करे; यदि संग्रह करेगा तो मधुमक्खियों के समान अपने संग्रह के साथ जीवन भी गँवा बैठेगा।

पदापि युवतीं(म्) भिक्षुर्न, स्पृशेद् दारवीमपि ।

स्पृशन् करीव बध्येत, करिण्या अं(ङ्)गसं(ङ्)गतः ॥ 13 ॥

राजन्! मैंने हाथी से यह सीखा कि संन्यासी को कभी पैर से भी काठ की बनी हुई स्त्री का स्पर्श न करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो जैसे हथिनी के अंग-संग से हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह बँध

जायेगा।

नाधिगच्छेत् स्त्रियं(म्) प्राज्ञः(ख्), कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः ।

बलाधिकैः(स्) स हन्येत, गजैरन्यैर्गजो यथा ॥ 14 ॥

विवेकी पुरुष किसी भी स्त्री को कभी भी भोग्यरूप से स्वीकार न करे; क्योंकि यह मूर्तिमयी मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियों से हाथी की तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषों के द्वारा मारा जायेगा।

न देयं(न्) नोपभोग्यं(ञ्) च, लुब्धैर्यद् दुःखसं(ञ्)चितम् ।

भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो, मधुहेवार्थवित्मधु ॥ 15 ॥

मैंने मधु निकालने वाले पुरुष से यह शिक्षा ग्रहण की है कि संसार के लोभी पुरुष बड़ी कठिनाई से धन संचय तो करते रहते हैं, किन्तु वह संचित धन न किसी को दान करते हैं और न स्वयं उसका उपभोग ही करते हैं। बस जैसे मधु निकालने वाला मधुमक्खियों द्वारा संचित रस को निकाल ले जाता है, वैसे ही उनके संचित धन को भी उसकी टोह रखने वाला कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है।

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तै- राशासानां(ङ्) गृहाशिषः ।

मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते, यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥ 16 ॥

तुम देखते हो न कि मधुहारी मधुमक्खियों का जोड़ा हुआ मधु उनके खाने से पहले ही साफ कर जाता है; वैसे ही गृहस्थों के बहुत कठिनाई से संचित किये पदार्थों को, जिनसे वे सुख भोग की अभिलाषा रखते हैं, उनसे भी पहले संन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं। क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतों को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करेगा।

ग्राम्यगीतं(न्) न शृणुयाद्, यतिर्वनचरः(ख्) क्वचित् ।

शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्-मृगयोर्गीतमोहितात् ॥ 17 ॥

मैंने हिरन से यह सीखा है कि वनवासी संन्यासी को कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये। वह इस बात की शिक्षा उस हिरन से ग्रहण करे, जो शिकारी के गीत से मोहित होकर बँध जाता है।

नृत्यवादित्रगीतानि, जुषन् ग्राम्याणि योषिताम् ।

आसां(ङ्) क्रीडनको वश्य, ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥ 18॥

तुम्हें इस बात का पता है कि हिरनी के गर्भ से पैदा हुए ऋष्यश्रृंग मुनि स्त्रियों का विषय-सम्बन्धी गाना-बजाना, नाचना आदि देख-सुनकर उनके वश में हो गये थे और उनके हाथ की कठपुतली बन गये थे।

जिह्वयातिप्रमाथिन्या, जनो रसविमोहितः ।

मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्-मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥ 19॥

अब मैं तुम्हें मछली की सीख सुनाता हूँ। जैसे मछली काँटे में लगे हुए मांस के टुकड़े के लोभ से अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वाद का लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी मन को मथकर व्याकुल कर देने वाली अपनी जिह्वा के वश में हो जाता है और मारा जाता है।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु, निराहारा मनीषिणः ।

वर्जयित्वा तु रसनं(न्), तन्निरन्नस्य वर्धते ॥ 20 ॥

विवेकी पुरुष भोजन बंद करके दूसरी इन्द्रियों पर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसना-इन्द्रिय वश में नहीं होती। वह तो भोजन बंद कर देने से और भी प्रबल हो जाती है।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्, विजितान्येन्द्रियः(फ्) पुमान् ।

न जयेद् रसनं(यँ) यावज्-जितं(म्) सर्वं(ञ्) जिते रसे ॥21 ॥

मनुष्य और सब इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी तब तक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जब तक रसनेन्द्रिय को अपने वश में नहीं कर लेता। और यदि रसनेन्द्रिय को वश में कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वश में हो गयीं।

पिं(ङ्)गला नाम वेश्याऽऽसीद्, विदेहनगरे पुरा ।

तस्या मे शिक्षितं(ङ्) किं(ञ्)चिन्- निबोध नृपनन्दन ॥ 22 ॥

नृपनन्दन! प्राचीन काल की बात है, विदेहनगरी मिथिला में एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिंगला। मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सावधान होकर सुनो।

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं(म्), सं(ङ्)केत उपनेष्यती ।

अभूत् काले बहिर्द्वारि, बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥23 ॥

वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपवती भी थी। एक दिन रात्रि के समय किसी पुरुष को अपने रमण स्थान में लाने के लिये खूब बन-ठनकर-उत्तम वस्त्राभूषणों से सज कर बहुत देर तक अपने घर के बाहरी दरवाजे पर खड़ी रही।

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य, पुरुषान् पुरुषर्षभ ।

ताञ्छुल्कदान् वित्तवतः(ख्), कान्तान् मेनेऽर्थकामुका ॥ 24 ॥

नररत्न! उसे पुरुष की नहीं, धन की कामना थी और उसके मन में यह कामना इतनी दृढ़मूल हो गयी थी कि वह किसी भी पुरुष को उधर से आते-जाते देखकर यही सोचती कि यह कोई धनी है और मुझे धन देकर उपभोग करने के लिये ही आ रहा है।

आगतेष्वपयातेषु, सा सं(ङ्)केतोपजीविनी ।

अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि, मामुपैष्यति भूरिदः ॥ 25॥

जब आने-जाने वाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह वेश्यावृत्ति से आमदनी करने वाली यही सोचती कि

अवश्य ही अब की बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आवेगा, जो मुझे बहुत-सा धन देगा।

एवं(न्) दुराशया ध्वस्त- निद्रा द्वार्यवलम्बती ।

निर्गच्छन्ती प्रविशती, निशीथं(म्) समपद्यत ॥ 26 ॥

उसके चित्त की यह व्यर्थ की आशा बढ़ती ही जाती थी। वह दरवाजे पर बहुत देर तक टँगी रही। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती तो कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात हो गयी।

तस्या वित्ताशया शुष्यद्- वक्त्राया दीनचेतसः ।

निर्वेदः(फ्) परमो जज्ञे, चिन्ताहेतुः(स्) सुखावहः ॥ 27 ॥

राजन्! सचमुच आशा और सो भी धन की-बहुत बुरी है। धनी की बाट जोहते-जोहते उसका मुँह सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्ति से बड़ा वैराग्य हुआ। अत्यंत निराश होकर वह अपनी स्थिति से अत्यधिक विरक्ति का अनुभव करने लगी और उसके मन में सुख का उदय हुआ।

तस्या निर्विण्णचित्ताया, गीतं(म्) शृणु यथा मम ।

निर्वेद आशापाशानां(म्), पुरुषस्य यथा ह्यसिः ॥ 28॥

जब पिंगला के चित्त में इस प्रकार वैराग्य की भावना जाग्रत् हुई, तब उसने एक गीत गाया। वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। राजन्! मनुष्य आशा की फाँसी पर लटक रहा है। इसको तलवार की तरह काटने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य है।

न ह्यं(ङ्)गाज्जातनिर्वेदो, देहबन्धं(ञ्) जिहासति ।

यथा विज्ञानरहितो, मनुजो ममतां(न्) नृप ॥ 29॥

प्रिय राजन्! जिसे वैराग्य नहीं हुआ है, वह शरीर और इसके बन्धन से उसी प्रकार मुक्त नहीं होना चाहता, जैसे अज्ञानी पुरुष ममता छोड़ने की इच्छा भी नहीं करता।

पिं(ङ्)गलोवाच

अहो मे मोहविततिं(म्), पश्यताविजितात्मनः ।

या कान्तादसतः(ख्) कामं(ङ्), कामये येन बालिशा ॥30 ॥

पिंगला ने यह गीत गाया था- 'हाय! हाय! मैं इन्द्रियों के अधीन हो गयी। भला! मेरे मोह का विस्तार तो देखो, मैं इन दुष्ट पुरुषों से, जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, विषयसुख की लालसा करती थी। कितने दुःख की बात है। मैं सचमुच मूर्ख थी ।

सन्तं(म्) समीपे रमणं(म्) रतिप्रदं(वँ्),

वित्तप्रदं(न्) नित्यमिमं(वँ्) विहाय ।

अकामदं(न्) दुःखभयाधिशोक-

मोहप्रदं(न्) तुच्छमहं(म्) भजेऽज्ञा ॥ 31 ॥

देखो तो सही,मेरे निकट-से-निकट हृदय में ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान विराजमान हैं। वे वास्तविक प्रेम, सुख और परमार्थ का सच्चा धन भी देने वाले हैं। जगत के पुरुष नश्वर हैं और हरि स्थिर हैं। मैंने उनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्यों का संग करती रही जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते; उलटे दुःख-भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। यह मेरी मूर्खता की पराकाष्ठा थी कि मैं उन पुरुषों की सेवा करती रही।

अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा,

सां(ङ्)केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।

स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्,

क्रीतेन वित्तं(म्) रतिमात्मनेच्छती ॥ 32 ॥

बड़े खेद की बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्यावृति का आश्रय लिया और व्यर्थ में अपने शरीर और मन को पीड़ा पहुँचायी। मेरा यह शरीर बिक गया था । लम्पट, लोभी और निन्दनीय मनुष्यों ने इसे खरीद लिया था और मैं इतनी मूर्ख थी कि इसी शरीर से धन और रति-सुख चाहती थी। मुझे धिक्कार है।

यदस्थिभिर्निर्मितवं(म्)शवं(म्)श्य-

स्थूणं(न्) त्वचा रोमनखैः(फ्) पिनद्धम् ।

क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्,

विण्मूत्रपूर्णं(म्) मदुपैति कान्या ॥ 33॥

यह शरीर एक घर है। इसमें हड्डियों के टेढ़े-तिरछे बाँस और खंभे लगे हुए हैं; चमड़ी, रोएँ और नाखूनों से यह सजाया गया है। इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते ही रहते हैं। इसमें संचित सम्पत्ति के नाम पर केवल मल और मूत्र है। मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है, जो इस स्थूल शरीर को अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी।

विदेहानां(म्) पुरे ह्यस्मिन्- नहमेकैव मूढधीः ।

यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मा- दात्मदात् काममच्युतात् ॥ 34 ॥

यों तो यह विदेहों की नगरी है, परन्तु इसमें मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ; क्योंकि अकेली मैं ही तो अविनाशी एवं परमप्रियतम परमात्मा को छोड़कर दूसरे पुरुष की अभिलाषा करती थी।

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ, आत्मा चायं(म्) शरीरिणाम् ।

तं(वँ) विक्रीयात्मनैवाहं(म्), रमेऽनेन यथा रमा ॥ 35॥

मेरे हृदय में विराजमान प्रभु, समस्त प्राणियों के हितैषी, सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब मैं अपने-आपको देकर इन्हें खरीद लूँगी और इनके साथ वैसे ही विहार करुँगी, जैसे लक्ष्मी जी करती हैं।

कियत् प्रियं(न्) ते व्यभजन्, कामा ये कामदा नराः ।

आद्यन्तवन्तो भार्याया, देवा वा कालविद्रुताः ॥ 36 ॥

मेरे मूर्ख चित्त! तू बतला तो सही, जगत् के विषय भोगों ने और उनको देने वाले पुरुषों ने तुझे कितना सुख दिया है। अरे! वे तो स्वयं ही पैदा होते और मरते रहते हैं। यह सभी क्षणिक सृष्टियाँ है , जिन्हें काल ग्रस लेगा। इनमें से कोई भी अपनी पत्नियों को कितना वास्तविक आनंद या सुख प्रदान कर सकता है ?

नूनं(म्) मे भगवान् प्रीतो, विष्णुः(ख्) केनापि कर्मणा ।

निर्वेदोऽयं(न्) दुराशाया, यन्मे जातः(स्) सुखावहः ॥37 ॥

अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्म से विष्णु भगवान मुझ पर प्रसन्न हैं, तभी तो दुराशा से मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। अवश्य ही मेरा यह वैराग्य सुख देने वाला होगा।

मैवं(म्) स्युर्मन्दभाग्यायाः(ख्), क्लेशा निर्वेदहेतवः ।

येनानुबन्धं(न्) निर्हृत्य, पुरुषः(श्) शममृच्छति ॥ 38॥

यदि मैं मन्दभागिनी होती हो मुझे ऐसे दुःख ही न उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है।मनुष्य वैराग्य के द्वारा ही घर आदि के सब बन्धनों को काटकर शान्ति-लाभ करता है।

तेनोपकृतमादाय, शिरसा ग्राम्यसं(ङ्)गताः ।

त्यक्त्वा दुराशाः(श्) शरणं(वँ), व्रजामि तमधीश्वरम् ॥ 39॥

अब मैं भगवान का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषय भोगों की दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वर की शरण ग्रहण करती हूँ।

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येत- द्यथालाभेन जीवती ।

विहराम्यमुनैवाह-मात्मना रमणेन वै ॥40 ॥

अब मुझे प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जायेगा, उसी से निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा श्रद्धा के साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरे पुरुष की ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर, आत्मस्वरूप प्रभु के साथ ही विहार करूँगी।

सं(म्)सारकूपे पतितं(वँ), विषयैर्मुषितेक्षणम् ।

ग्रस्तं(ङ्) कालाहिनाऽऽत्मानं(ङ्), कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥ 41 ॥

यह जीव संसार के कूएँ में गिरा हुआ है। विषयों ने इसे अंधा बना दिया है , कालरूपी अजगर ने इसे अपने मुँह में दबा रखा है। अब भगवान को छोड़कर इसकी रक्षा करने में दूसरा कौन समर्थ है।

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता, निर्विद्येत यदाखिलात् ।

अप्रमत्त इदं(म्) पश्येद्, ग्रस्तं(ङ्) कालाहिना जगत् ॥ 42 ॥

जिस समय जीव समस्त विषयों से विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है। इसलिये बड़ी सावधानी के साथ यह देखते रहना चाहिये कि सारा जगत् कालरूपी अजगर से ग्रस्त है।

ब्राह्मण उवाच

एवं(वँ) व्यवसितमतिर्- दुराशां(ङ्) कान्ततर्षजाम् ।

छित्त्वोपशममास्थाय, शय्यामुपविवेश सा ॥ 43 ॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं - राजन् ! पिंगला वेश्या ने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियों की बुरी आशा , उनसे मिलने की लालसा का परित्याग कर दिया और शान्त भाव से जाकर वह अपनी सेजपर सो गयी।

आशा हि परमं(न्) दुःखं(न्), नैराश्यं(म्) परमं(म्) सुखम् ।

यथा सञ्छिद्य कान्ताशां(म्), सुखं(म्) सुष्वाप पिं(ङ्)गला ॥ 44 ॥

सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है .,क्योंकि पिंगला वेश्या ने जब पुरुष की आशा त्याग दी, तभी वह सुख से सो सकी।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः।।

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥